संपादक

अपूर्व

महाप्रबंधक

अमित कुमार

शब्द-संयोजन

उषा ठाकुर

आवरण पृष्ठ : जनार्दन कुमार सिंह
रेखाचित्र : टी.पी. पोद्दार, आस्था

वर्ष : 18, अंक 4, जनवरी, 2026

मूल्य :

प्रति	:	रु. 40.00
वार्षिक, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 1000.00
आजीवन, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 10000.00

भुगतान इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी के नाम से किया जाए।
भुगतान ऑनलाइन या सीधे बैंक में भी जमा कर सकते हैं।
बैंक : UNION BANK
खाता संख्या : 520101255568785
IFSC : UBIN **0905011**
बैंक शाखा : जी-28, सेक्टर-18, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश

प्रकाशक

इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी
बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201309
गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0120-4330755
editor@pakhi.in
pakhimagazine@gmail.com
www.facebook.comèpakhimagazine
Web portal : www.pakhi.in

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक और प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अंतर्गत विचारणीय।
स्वामित्व इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसाइटी के लिए प्रकाशक, मुद्रक नारायण सिंह राणा द्वारा चार दिशाएं प्रिंटर्स प्रा.लि. जी-39, नोएडा से मुद्रित एवं बी-107, सेक्टर 63, नोएडा से प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

संपादकीय/अपूर्व

शब्द, सत्ता और समय 4

चिट्ठी आई है 7

कहानियां

संगिनी	:	जयश्री रॉय	10
वीर्यघात	:	यामिनी	16
कुमार हट्टी से डगशाई तक का रास्ता–'और वो मेम'	:	कमला दत्त	23
सैलाब	:	शेर सिंह	28
पूर्णिमा	:	प्रदीप सिंह गुसाईं	32
हारा हुआ कल	:	शालिनी खन्ना	35
रुस्तम और आदमी	:	सिद्धार्थ बाजपेयी	40

कविताएं/ग़ज़लें

शैलेय की कविताएं 43

यश मालवीय के नवगीत 45

भरत प्रसाद की कविताएं 47

शंकरानंद की कविताएं 49

नंदा पांडेय की कविताएं 51

मूल्यांकन

मुंह का मज़ा ही बदल दिया 'तश्तरी' ने : अनिल माहेश्वरी 53

देश को बचाने की जद्दोजहद करती कविताएं : शिव कुमार यादव 56

संघर्ष और जनपक्षधरता का जीवट आख्यान : कांधों पर घर : शुभम मोंगा 61

साक्षात्कार

भारत में सशस्त्र संघर्ष संभव नहीं 66

आलेख

गैर-शहरी क्षेत्रों की सामाजिक विसंगतियां और संजीव के उपन्यास : शैलेंद्र चौहान 74

स्त्री लेखन के पन्ने : सरोजिनी नौटियाल 77

धर्मवीर भारती : मानव मुक्ति का प्रश्न : आलोक कुमार 81

स्थाई स्तंभ

कल्पित कथन

हमारे गर्म मुल्क में पेंगुइन और नई वाली हिंदी : कृष्ण कल्पित 85

सत्याग्रह

क्या हमारा लोकतंत्र सिकुड़ रहा है? : प्रियदर्शन 88

कथा-मीमांसा

इक्कीसवीं सदी की कहानियों का घोषणा-पत्र : पंकज शर्मा 90

कथा-मीमांसा

सोशल मीडिया और चुनाव : अर्पण कुमार 94

शब्द, सत्ता और समय

जब 2008 में 'पाखी' की शुरुआत हुई थी और मैंने स्वयं उसका संपादन संभालता था, तब मेरे सामने एक प्रश्न बार-बार कठिन बनकर खड़ा हो जाता था—संपादकीय किस विषय पर लिखा जाए। मैं मूल रूप से एक राजनीतिक पत्रकार रहा हूं और जैसा कि मैंने कई बार कहा भी है, हिंदी साहित्य की दुनिया में मैं मानो पैराशूट से कूदा था। उस दौर में मेरे संपादकीय पर कई बार मुझे अपने साहित्यिक मित्रों से यह टिप्पणी सुननी पड़ी कि मैं राजनीतिक विषयों के बजाय साहित्य पर लिखा करूं। उनकी दलील होती थी कि साहित्य का दायरा राजनीति से ऊंचा होता है। लेकिन मेरा हमेशा से यह मानना रहा है कि साहित्य समाज से हटकर नहीं हो सकता और राजनीति से हटकर तो वह रह ही नहीं सकता। समाज की धड़कन राजनीति में सुनाई देती है और वही धड़कन साहित्य में भी गूंजती है, फर्क केवल भाषा और शिल्प का होता है।

आज के समय में यह एक आम प्रवृत्ति बन गई है कि बहुत से साहित्यकार, लेखक और कवि यह कहते हुए राजनीतिक मुद्दों से दूरी बना लेते हैं कि 'हम साहित्य सृजन हैं, राजनीति से हमारा कोई संबंध नहीं।' यह कथन सुनने में भले ही आकर्षक लगे पर विचार की कसौटी पर यह न केवल कमजोर, बल्कि ऐतिहासिक रूप से भी गलत सिद्ध होता है। विश्व और भारतीय साहित्य के सबसे बड़े विचारकों ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि साहित्य और राजनीति को अलग करना न तो संभव है और न ही नैतिक।

फ्रांस के महान दार्शनिक ज्यां-जैक्स रूसो ने अठारहवीं शताब्दी में ही यह सवाल खड़ा करा था कि क्या कला और साहित्य सत्ता की संरचनाओं से बाहर खड़े रह सकते हैं? अपनी प्रसिद्ध कृति 'सामाजिक अनुबंध' में रूसो यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य का हर सामाजिक आचरण किसी न किसी रूप में राज्य और सत्ता से जुड़ा होता है। रूसो का यह मूल विचार था कि जब समाज की राजनीति पतन की ओर जाती है, तो उसकी कला और साहित्य भी अंततः उसी व्यवस्था के पक्ष में खड़े होने लगते हैं। उन्होंने यह भी चेतावनी दी थी कि दरबारी साहित्य अक्सर जनता से कट जाता है और सत्ता का सौंदर्यीकरण करने लगता है। रूसो के अनुसार लेखक अगर अन्याय को देखकर चुप रहता है तो वह केवल तटस्थ नहीं रहता, बल्कि व्यवस्था का मौन समर्थक बन जाता है। इस दृष्टि से देखें तो 'राजनीति से दूरी' कोई निष्पक्षता नहीं बल्कि एक सुरक्षित पलायन है।

भारतीय संदर्भ में इस बहस को सबसे मजबूत वैचारिक आधार मुंशी प्रेमचंद ने दिया। प्रेमचंद ने अपने लेखन और अपने वक्तव्यों के माध्यम से यह स्थापित किया कि साहित्य का मूल धर्म केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज की सच्चाइयों को उजागर करना है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि 'जिस साहित्य का संबंध जनजीवन से नहीं, वह निष्प्राण है।' प्रेमचंद का पूरा कथा-संसार, 'गोदान', 'रंगभूमि', 'कफन', 'सद्गति' सीधे-सीधे सामाजिक अन्याय, जमींदारी, शोषण, सत्ता और प्रशासनिक क्रूरता पर प्रहार है। प्रेमचंद यह मानते थे कि अगर लेखक समाज के शासक वर्ग से सवाल नहीं कर रहा, तो उसका साहित्य जनता के काम का नहीं रह जाता। उनके लिए साहित्य और राजनीति अलग-अलग नहीं, बल्कि एक ही सामाजिक संघर्ष के दो चेहरे थे।

इसी सोच को आगे बढ़ाते हैं महात्मा गांधी जिन्होंने साहित्य को सामाजिक आंदोलन का हथियार माना। गांधी के अनुसार ऐसा साहित्य जो जनता को अन्याय के विरुद्ध खड़ा न करे, वह नैतिक दृष्टि से अधूरा है। उन्होंने साफ कहा था कि लेखक की तटस्थता वास्तव में उत्पीड़क के पक्ष में खड़े होने जैसी है। गांधी स्वयं राजनीतिक नेता थे, लेकिन उनके विचारों, लेखों और पत्रों ने साहित्यिक चेतना को भी आकार दिया।

यूरोप में इस विचार को दार्शनिक गहराई देने का काम ज्यां-पॉल सार्त्र ने किया। सार्त्र का प्रसिद्ध कथन है कि 'लेखक की चुप्पी भी एक राजनीतिक वक्तव्य होती है।' वे कहते हैं कि लेखक समाज से बाहर खड़े होकर नहीं लिखता, बल्कि वह उसी समाज की हवा में सांस लेता है, उसी व्यवस्था में जीता है, उसी शोषण या सुविधाओं का हिस्सा बनता है। इसलिए उसका लेखन या तो यथास्थिति को मजबूत करता है या उसे चुनौती देता है।

हिंदी साहित्य में इस विचार को सबसे अधिक तीखापन नागार्जुन की कविताओं में मिलता है। नागार्जुन ने बार-बार सत्ता, शासकों और व्यवस्था की क्रूरता पर सीधा हमला किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जो कवि सत्ता से सवाल नहीं करता, वह कवि नहीं, दरबारी होता है। उनकी कविताएं केवल सौंदर्य-बोध की रचनाएं नहीं हैं, बल्कि वे प्रतिरोध की मशाल हैं। इसी परंपरा को आगे बढ़ाया भीष्म साहनी ने, जिन्होंने कहा